विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

ताम्र मुद्राओं में नागवंश का उल्लेख
कुमार चंद्रप्रकाश

पृष्ठ क्र. 3-4

भारतीय नगर नियोजन की प्राचीन अवधारणा
राजेन्द्र वर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

प्रतिमा निर्माण की बृहत् भारतीय परंपरा
विजय कुमार त्रिपाठी

पृष्ठ क्र. 7

प्राचीन भारत के पारपंरिक सिंचाई साधन
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 8

वैदिक धारा और भारतीय संस्कृति
मिथिलेश यादव

ताम्र मुद्राओं में नागवंश का उल्लेख

कुमार चंद्रप्रकाश

नाग वंश का ऐतिहासिक आधार पुराणों के उल्लेख तथा सहस्रों की संख्या में प्राप्त होने वाली उनकी ताम्र मुद्राएँ हैं। उल्लेखनीय है कि आज तक प्राचीन भारत के मूल तथा विदेशी शासकों यथा दक्षिण के आन्ध्र सातवाहन शासक, पश्चिमी शक क्षत्रप शासक और कुषाण शासकों की ताम्र मुद्राएँ इस मात्रा में नगण्य हैं। गणपति नाग का उल्लेख समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ पर प्राप्त प्रशस्ति में है। वाकाटक शासकों के शिलालेखों से यह भी प्रकट है कि भवनाग की राजकुमारी का विवाह प्रवरसेन राजकुमार से हुआ था। अल्कर प्रवरसेन का राज्यकाल ईस्वी सन् 275 से 335 तक मानते हैं। गणपति नाग की असंख्य ताम्र मुद्राएँ उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं पर उसकी उपाधि महाराज श्री अंकित है। गणपति नाग की मुद्राओं पर उसके विविध नाम जैसे गणपति, गणेन्द्र तथा गणपेन्द्र अंकित हैं। डॉ. वि.श्री. वाकणकर ने क्षिप्रा तल से नाग शासकों के सिक्कें प्राप्त किये थे उनमें गणपति भाग के सर्वाधिक सिक्कें मिले। भावशतक (काव्य माला सीरिज) में गणपति नाग को धाराधीश कहा गया है। इससे उसके विस्तृत साम्राज्य की जानकारी मिलती है। (केटलॉग ऑफ द क्वायस ऑफ द नाग किञ्ज ऑफ पद्मावती गणपतिनाग नागवंश कर अन्तिम प्रतापी शासक था। उसका नाम समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के शासकों में आया है जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। गणपति नाग की ताम्र मुद्राएँ बेसनगर (विदिशा) उत्खनन उज्जैन व मालवा के अन्य स्थलों से प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। 'भावशतक' नामक ग्रन्थ में गणपति नाग को 'धाराधीश' कहा है। इसके अनुसार उसका साम्राज्य धार तक विस्तृत था। गणपति नागवंश का अन्तिम प्रभावी शासक था।

मालवा के अन्तर्गत उज्जैन विदिशा क्षेत्र से जिष्णु नामक स्वतंत्र शासक की ठप्पांकित सात प्रकार यथा शंख, चक्र, घट-पल्लव, नंदीपद, मानवाकृति, सूर्यध्वज प्रतीक अंकित ताम्र मुद्राएँ मिली हैं। इन मुद्राओं के पुरोभाग में ब्राह्मी लिपि व संस्कृत भाषा में मोटे अक्षरों में शासक का नाम जिष्णु अंकित है एवं पृष्ठ भाग में प्रतीक। जिष्णु नामांकित मानवाकृति प्रकार की ताम्र मुद्राएँ पंजाब क्षेत्र से भी प्राप्त हुई हैं। जिष्णु नामांकित मुद्राओं के प्रचलन कर्त्ता शासक के शासित क्षेत्र तिथिक्रम के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। परमेश्वरी लाल गुप्त ने मालवा और पंजाब प्रदेश से प्राप्त जिष्णु नामांकित मुद्राओं के सम्बन्ध में यह मत प्रकट किया है कि इन मुद्राओं के प्रचलन कर्त्ता जिष्णु ने ऑलिकर शासक यशोधर्मन् के पश्चात् छठी सदी ई. में मालवा प्रदेश पर शासन किया तथा पंजाब प्रदेश भी इसके शासनान्तर्गत रहा होगा। अल्तेकर जिष्णु को मालवा और पंजाब दोनों भू-भागों का एक ही शासक नहीं मानते, वे मुद्राओं की बनावट, प्रतीक और वजन आदि के भेद के आधार पर जिष्णु नामक दो भिन्न शासकों को मान्यता प्रदान करते हैं। जिष्णु मुद्राएँ बनावट में नाग शासकों अथवा मालवगण की मुद्राओं के अनुरूप है। उन पर व्याघ्र नाग की मुद्रा पर अंकित चक्र प्रतीक है। जिष्णु नामांकित लेखयुक्त स्थानीय स्वतंत्र शासक की विविध प्रतीकांकित ताम्र मुद्राएँ अधिकांशतः उज्जैन-भिलसा (आधुनिक विदिशा, मध्यप्रदेश) क्षेत्र से मिली हैं। मालवा की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तीसरी-चौथी सदी ई. में इस क्षेत्र पर पश्चिमी शक क्षत्रप शासक शासनरत थे। शक क्षत्रप शासकों के पतन के पश्चात् मंदसौर (मालवा का उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र) से गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के अभिलेख से पूर्व चार अन्य शिलालेखों से औलिकर वंश के शासकों का परिचय मिलता है। जिष्णु की मुद्राओं पर नागवंश के शासकों यथा वृहस्पति नाग, विभुनाग, व्याघ्रनाग और देवनाग की ताम्र मुद्राओं के समान छः सात व आठ आरे वाला चक्र अंकित है। जिष्णु मुद्राएँ नाग शासकों की मुद्राओं के अनुरूप

बनावट, वजन में कम एवं क्षुद्राकार है। नागवंश का शासन उज्जैन से लेकर विदिशा तक विस्तृत था। मंदसौर से मिली रुद्र अथवा रुदिल नामांकित ताम्र मुद्राओं के पुरोभाग में मोटे ब्राह्मी लिपि के अक्षरों व संस्कृत भाषा में रुद्र अथवा रुद्रिल नामांकित है व पृष्ठ भाग में वृत्तावत बिन्दुओं के मध्य अष्टार चक्र का अंकन है। पाद–ताड़ितक में रुद्र वर्मा का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह जिष्णु नामक स्वतंत्र शासक के पश्चात् मालवा का अल्पकालीन स्वतंत्र शासक रहा होगा। रामगुप्त अथवा रामगुत नामांकित कई ताम्र मुद्राएँ उज्जैन भिलसा क्षेत्र से मिली हैं। ये ताम्र मुद्राएँ–

1. सिंह प्रकार 2. गरुड़ प्रकार 3. चक्र प्रकार 4. धनुर्धर प्रकार एवं 5. वृषभ प्रकार की हैं। अभी हाल में रामगुप्त की एक वृत्ताकार आवक्ष प्रकार की ताम्र मुद्रा अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर से प्राप्त हुई है। विदिशा से प्राप्त तीन जैन प्रतिमा लेखों में उसकी उपाधि 'महाराजाधिराज' उत्कीर्ण है। रामगुप्त की ताम्र मुद्राएँ केवल मालवा क्षेत्र से ही मिली हैं। ये मुद्राएँ गुप्त सम्राटों की मुद्रा परम्परा से अलग है।

रामगुप्त की कोई चाँदी अथवा स्वर्ण मुद्रा उपलब्ध नहीं है। उज्जैन–विदिशा से प्राप्त क्षुद्राकार ताम्र मुद्राएँ नाग व जिष्णु नामक शासकों की परम्परा में है। अतएव यह रामगुप्त मालवा का स्थानीय शासक रहा होगा। कुमारगुप्त–बन्धुवर्मा के मालव संवत् 493 (436 ई.) के मंदसौर से प्राप्त प्रस्तर अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में मालवा देश के तत्कालीन प्रान्तीय शासक नृप विश्ववर्मा उसके पुत्र दशपुर नगर के शासक बन्धुवर्मा थे। कुमारगुप्त प्रथम के समय में जब बन्धुवर्मा दशपुर नगर पर शासन कर रहा था तो दशपुर नगर की रमणीयता से मुग्ध होकर लाट देश के रेशमी बुनकरों का दल वहाँ आकर व्यवसाय करने लगा और अपने व्यवसाय से प्राप्त धन से उसने राजाज्ञा से एक भव्य सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया। कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में पुष्यमित्रों का आक्रमण हुआ, जिसके कारण साम्राज्य की शान्ति भंग हो गई। स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख में यह वर्णन है कि उसने अपने वंश की विचलित लक्ष्मी को पुनः स्थापित करने में भूमितल को शय्या बनाकर सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत की थी। मुद्रा शास्त्र के साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कुमारगुप्त प्रथम के समय राज्य की स्थिति असामान्य थी। मालवा के अन्तर्गत निमाड़ जिले के बमनाला नामक स्थल से गुप्त शासकों की एक स्वर्ण मुद्राओं की निधि प्राप्त हुई है। इस मुद्रानिधि में कुमारगुप्त प्रथम तक सोने की मुद्राएँ तथा एक सोने की छड़ भी प्राप्त हुई है। यह मुद्रानिधि पुष्यमित्रों के विद्रोह के मध्य भूमि में गाड़ दी गई हो। कुमार गुप्त प्रथम की मृत्यु के पूर्व तथा उसके बाद (455 ई.) गुप्त साम्राज्य बाह्य आक्रमणकारियों के दबाव में था जिसे स्कन्दगुप्त ने विशृंखलित होने से बचाया। स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में गुप्त साम्राज्य पर का भयंकर आक्रमण हुआ। वि. स्मिथ एवं वी.पी. सिन्हा का मत है कि स्कन्दगुप्त ने हूणों का निरन्तर सामना किया, जिससे गुप्त साम्राज्य का अन्ततः पतन हुआ। स्कन्दगुप्त ने तृतीय हुण आक्रमण का सामना करते हुए वीर गति प्राप्त की। 467 ई. में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई, तत्पश्चात् गुप्त साम्राज्य के सिंहासन के लिए आपसी द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। मंदसौर अभिलेख में 473 ई. सूर्य मंदिर के पुनर्निर्माण के समय दशपुर के शासक का नामोल्लख नहीं है। इस राजनीतिक परिस्थिति का वाकाटकों ने लाभ प्राप्त कर अपना प्रभाव मालवा पर बढ़ाया। पृथ्वीसेन के बालाघाट ताम्रपत्र शासनों से नरेन्द्रसेन के विषय में यह जानकारी प्राप्त होती है कि कोशल, मेकल, मालवा के शासक उसे सम्मानित करते हैं। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इन प्रदेशों पर उसका राजनीतिक वर्चस्व था। इस समय पश्चिमी मालवा का शासक प्रभाकर वर्जून संवत् 524 (467 ई.) दशपुर में शासन कर रहा था। वह संभवतः औलिकर वंशज था। प्रभाकरवर्द्धन का उत्तराधिकारी आदित्यवर्द्धन नियुक्त हुआ। मंदसौर के तिथि विहिन गौरि शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि नरेन्द्र आदित्यवर्द्धन दशपुर में शासन कर रहा था। मंदसौर अभिलेख में उसे शत्रु विजेता कहा गया है। आदित्यवर्द्धन का शासन काल विक्रम संवत् 532–552 (475 से 495 ई.) तक रहा।

महाराजाधिराज द्रव्य वर्धन का उल्लेख वराहमिहिर की बृहत्संहिता में आया है। वा.वि. मिराशी के मतानुसार द्रव्य वर्धन ऑलिकर वंशज था एवं उसका शासनकाल 495 से 515 ई. तक रहा। मंदसौर जिलान्तर्गत रिस्थल नामक ग्राम से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। यह शिलालेख वस्तुतः प्रकाशधर्मा का प्रशस्ति है। संवत् 572 (515 ई.) का इसमें अंकन है। इसमें ऑलिकर वंश के नृपति द्रप वर्धन, जयवर्धन, जिलवर्धन, विभीषण वर्धन, राज्य वर्धन तथा अन्त में प्रकाशधर्मा का गौरवशाली चरित्र वर्णित है। प्रकाशधर्मा की दो काँच की मुद्राएँ मंदसौर पुरातत्व उत्खनन सन् 1978 में निखात क्रमांक पाँच में प्राप्त हुई थी। हूण शासक तोरमाण से प्रकाशधर्मा का भीषण युद्ध हुआ। तोरमाण के शासन का प्रथम वर्ष का शिलालेख व उसकी मुद्राएँ नामक स्थल (पूर्वी मालवा) से मिली हैं। उससे यह विदित होता है कि पूर्वी मालवा पर उसका अधिकार था। हूण शासक तोरमण अपना आधिपत्य सम्पूर्ण मालवा पर स्थापित करना चाहता था।

भारतीय नगर नियोजन की प्राचीन अवधारणा

राजेन्द्र वर्मा

प्राचीन समय से ही भारत में स्थापत्य शास्त्र की परिधि काफी व्यापक रही है। इसमें नगर रचना, भवन, मन्दिर, मूर्तियाँ, चित्रकला सब कुछ आता था। नगरों में सड़कें, जल–प्रदाय व्यवस्था, सार्वजनिक सुविधा हेतु स्नानघर, नालियाँ, भवन के आकार–प्रकार, उनकी दिशा, माप, भूमि के प्रकार, निर्माण में काम आने वाली वस्तुओं की प्रकृति आदि का विचार किया गया था और यह सब प्रकृति से सुसंगत हो, यह भी देखा जाता था। जल प्रदाय व्यवस्था में बाँध, कुआं, बावड़ी, नहरें, नदी आदि का भी विचार होता था। किसी भी प्रकार के निर्माण हेतु शिल्प शास्त्रों में विस्तार से विचार किया गया है। हजारों वर्ष पूर्व वे कितनी बारीकी से विचार करते थे, इसका भी ज्ञान होता है। शिल्प कार्य के लिए मिट्टी, एंटें, चूना, पत्थर, लकड़ी, धातु तथा रत्नों का उपयोग किया जाता था। इनका प्रयोग करते समय कहा जाता था कि इनमें से प्रत्येक वस्तु का ठीक से परीक्षण कर उनका निर्माण में आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। परीक्षण हेतु वह माप कितने वैज्ञानिक थे, इसकी कल्पना हमें निम्न उद्धरण से आ सकती है–महर्षि भृगु कहते हैं कि निर्माण उपयोगी प्रत्येक वस्तु का परीक्षण निम्न मापदंडों पर करना चाहिए।

वर्णलिंगवयोवस्थाः परोक्ष्यं च बलाबलं।
यथायोग्यं, यथाशक्तिः संस्कारान्कारयेत् सुधीः।।

(भृगु संहिता)

अर्थात् वस्तु का वर्ण (रंग), लिंग (गुण, चिन्ह), आयु (रोपण काल से आज तक) अवस्था (काल खंड के परिणाम) तथा इन सबके कारण वस्तु की ताकत देखकर उस पर जो खिंचाव पड़ेगा, उसे देख–परखकर यथोचित रूप में सभी संस्कारों को करना चाहिए।

इनमें वर्ण का अर्थ रंग है। पर शिल्प शास्त्र में इसका उपयोग प्रकाश को परावृत करता है। अतः इसे उत्तम वर्ण कहा गया। निर्माण के संदर्भ में अनेक प्राचीन ऋषियों के शास्त्र मिलते हैं, जैसे–

विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र– इसमें विश्वकर्मा निर्माण के संदर्भ में प्रथम बात बताते हैं– 'पूर्व भूमिं परिक्ष्येत पश्चात् वास्तु प्रकल्पयेत्' अर्थात् पहले भूमि परीक्षण कर फिर वहाँ निर्माण करना चाहिए। इस शास्त्र में विश्वकर्मा आगे कहते हैं उस भूमि में निर्माण नहीं करना चाहिए जो बहुत पहाड़ी हो, जहाँ भूमि में बड़ी–बड़ी दरारें हो आदि।

काश्यप शिल्प–इसमें कश्यप ऋषि कहते हैं नींव तब तक खोदनी चाहिए जब तक जल न दिखे, क्योंकि इसके बाद चट्टानें आती हैं।

भृगु संहिता–इसमें भृगु कहते हैं कि जमीन खरीदने के पहले भूमि का पाँच प्रकार अर्थात् रूप, रंग, रस, गन्ध और

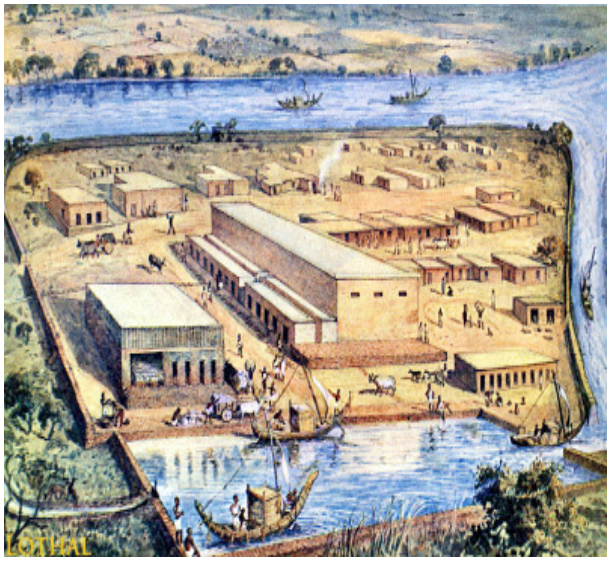

स्पर्श से परीक्षण करना चाहिए। वे इसकी विधि भी बताते हैं। इसके अतिरिक्त भवन निर्माण में आधार के हिसाब से दीवारें, उनकी मोटाई, उसकी आन्तरिक व्यवस्था आदि का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। इस ज्ञान के आधार पर हुए निर्माणों के अवशेष सदियाँ बीतने के बाद भी अपनी कहानी कहते हैं, जिसके कुछ निम्नानुसार हैं–

मोहनजोदड़ो (सिंध)– पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त ईसा से 3000 वर्ष पूर्व के नगर मोहनजोदड़ो की रचना देखकर आश्चर्य होता है। अत्यंत सुव्यवस्थित ढंग से बसा हुआ है यह नगर मानो उसके भवन तथा सड़कें सब रेखागणितीय माप के साथ बनाए गए थे। इस नगर में मिली सड़कें एकदम सीधी थीं तथा पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण बनी हुई थीं। दूसरी आश्चर्य की बात यह कि ये एक–दूसरे से 90 अंश के कोण पर थीं। भवन निर्माण अनुपात में था। एंटों के जोड़, दीवारों की ऊँचाइयाँ बराबर थीं। भोजनालय, स्नानघर, रहने के कमरे आदि की उचित व्यवस्था थी। नगर में रिहायशी भवन, बगीचे, सार्वजनिक भवन के साथ ही बहुत बड़ा सार्वजनिक स्नानागार भी मिला था, जो 11.82 मीटर लम्बा, 7.01 मीटर चौड़ा तथा 2.44 मीटर ऊँचा है, जिसमें पानी हेतु दो धाराएँ थीं। दूसरी बात, दीवारों में ईंटों पर ऐसा पदार्थ लगा था जिस पर पानी का असर न हो। इस नगर को देखकर ध्यान में आता है कि नगर को बसाने वाले निर्माण शास्त्र में बहुत पारंगत थे। डॉ. एस.आर. राव ने पुरातात्विक उत्खनन में द्वारका को खोजा और वहाँ जो पुरावशेष मिले वे बताते हैं कि द्वारका नगर भी सुव्यवस्थित बसा था। नगर के चारों ओर दीवार थी। भवन निर्माण जिन पत्थरों से होता था उनका समुद्री पानी में क्षरण नहीं होता था। दो मंजिलें भवन, सड़कें तथा पानी की व्यवस्था वहाँ दृष्टिगोचर होती है। इस

खुदाई में ताँबा, पीतल व कुछ मिश्र धातुएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें जस्ता 34 प्रतिशत तक मिश्रित है। निर्माण में आने वाले स्तंभ, खिड़कियों के पट आदि का माप व आकार पूर्ण गणितीय ढंग से था।

लोथल बंदरगाह (सौराष्ट्र) – ईसा से 2500 वर्ष पूर्व लोथल का बंदरगाह बनाया गया, जहाँ छोटी नावें ही नहीं अपितु बड़े–बड़े जहाज भी रुका करते थे। यहाँ बंदरगाह होने के कारण एक बड़ा शहर भी बसा था। इसकी रचना लगभग मोहनजोदड़ो, हड़प्पा जैसी ही थी। सड़कें, भवन, बगीचे, सार्वजनिक उपयोग के भवन आदि थे। दूसरे, यहाँ श्मशान शहरी बस्ती से दूर बनाया गया था। लोथल बंदरगाह 300 मीटर उत्तर–दक्षिण तथा 400 मीटर पूर्व–पश्चिम था और बाढ़, तूफान रोकने हेतु 13 मीटर की दीवार एंट, मिट्टी आदि की बनी थी। यह बंदरगाह बाद के काल बने में फोनेशियन और रोमन बंदरगाहों से बहुत विकसित था। वाराणसी–क्लॉड वेटली ने भारतीय शिल्प के बारे में लिखा है कि भारत की महान् शिल्प विरासत की उपेक्षा की गयी है। बहुत सारी आधुनिक इमारतें भव्यता के बाद भी भारत को आबोहवा, मानसूनी हवाओं, जलवृष्टि और लंबरूप सूर्य के प्रकाश के कारण प्रतिकूल हैं। भारत के परम्परागत वास्तु शिल्प की आवश्यक बातें पत्थर की कुर्सी, मोटी दीवारें, खिड़कियों का फर्स की ओर झुकाव, जिससे हवा का आगम–निर्गम उन्मुक्त रहे, भीतरी आंगन, तलघर, टेरेसनुमा छप्पर का निर्माण प्रचलित रहे हैं। भारतीय वास्तु शिल्प में इन बातों का ध्यान समुदाय की सुविधाओं और वृद्धिशील स्वास्थ्य के मद्देनजर रखा गया। वाराणसी विश्व का पहला नियोजित नगर माना गया है।

प्राचीन भारत में जलशक्ति अभियांत्रिकी के विद्वान प्रो. भीमचन्द्र चटर्जी भारत के जल अभियांत्रिकी विज्ञान के बारे में लिखते हैं कि अयोध्या की राज्य परम्परा की चार पीढ़ियाँ अनवरत हिमालय से गंगा को लाने के लिए समर्पित रहीं और महान भगीरथ गंगा अवतरण में सफल हुए। गंगा का प्रवाह बंगाल की खाड़ी की ओर प्रवर्तित किया गया। वाराणसी के सामने गंगा को घुमाव दिया गया। यहाँ यह उत्तरामुखी होती है और इसकी दो शाखाएँ होती हैं– वरुणा और असी। इनका जल पोषण गंगा ने किया। ऐसे घनत्व के स्थान जहाँ बाढ़ में जलागम बढ़ने पर अति जलागार को दूर प्रवाहित किया जा सके। बाढ़ रोकने का ऐसा अप्रतिम उदाहरण दूसरा नहीं। पेयजल, जल–मल की शुद्धि। यात्रियों के लिए विश्रामालय, धर्मशालाएँ, अतिथि गृह। उपभोक्ता सामग्री क्रय–विक्रय स्थल। अपराध अनुसंधान, दंड विधान की व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, अराजक तत्वों से सुरक्षा। बाग–बगीचा, आमोद–प्रमोद और शिक्षा संस्थाओं के लिए। आवासीय व्यवस्था, कार्यशालाएँ, कल कारखाने। अन्तेष्टि स्थल और अस्थि विसर्जन की व्यवस्था। अस्पताल, स्वास्थ्य निदान केन्द्र। देवी–देवता स्थल, सभी मतावलंबियों की सुविधा, समागम स्थल, सार्वजनिक समारोह, नगर नियोजन में नौ यह नौ बातें आवश्यक मानी गयी है। प्राचीन भारत में नगर नियोजन का दुर्लभ उदाहरण– कांजीवरम् नगर नियोजन का अनुपम उदाहरण है। विश्व के नगर नियोजन विज्ञानी कांजीवरम् का नियोजन देखकर दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं। प्राचीन भारत में दक्षिण के नगर नियोजन के विशिष्ट वैभव के विषय में सी.पी. वेंकटराम अय्यर ने लिखा है कि प्राचीन नगर कांजीवरम् परम्परागत श्रेष्ठ नगर नियोजन का एक दुर्लभ नमूना है। प्रोफेसर गेडेड ने इसे नगर नियोजन के भारत के चिन्तन और नागरिक सोच का उत्कर्ष कहा है और उसकी भूरि–भूरि सराहना की है। यहाँ अनुकूल आराम, कामकाजी दक्षता के अनुरूप नगर नियोजन ने प्रो. गेडेड की अत्यंत प्रभावित किया है। यह प्राचीन भारत में नगर नियोजन का ठोस सबूत है। नगर की योजना की यह उत्कृष्ट सोच है। नागरिक सोच की जितनी उत्कृष्ट कल्पना हो सकती है, शिल्पियों ने यहाँ उसे मूर्त रूप दिया है। उन्होंने मौलिक रूप से मन्दिरों के नगर को बहुत ही विलक्षण कल्पना से संवारा है। नगर को मंदिरों से मात्र आकार ही नहीं दिया गया है अपितु अनेक दृष्टियों से यह छोटी–छोटी बातों में समृद्ध है, जो आनंदित करता है।

यहाँ समुदायों का अलग–अलग सपना साकार होता है। मानव की कल्पना तथा व्यवहार की गरिमा मूर्तरूप होती है। साथ ही व्यक्तिगत कलाकार को अपनी सुरुचिपूर्ण स्वायत्तता सुलभ है। अन्यत्र कहीं भी, यहाँ तक कि दुनिया के समृद्धतम नगरों में भी यह दुर्लभ है। सिंधु घाटी सभ्यता के लोग भवन का निर्माण भी बहुत ही दक्षता से करते थे। इनकी पुष्टि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो आदि से प्राप्त भवनों के अवशेषों से होती है। भवनों का निर्माण भी काफी सुनियोजित तरीके से किया जाता था। साधारण लोगों के रहने के लिए मकानों का निर्माण सड़क के दोनों ओर किया जाता था। इन मकानों का आकार आवश्यकतानुसार छोटा या बड़ा होता था। मकानों के निर्माण के लिए केवल उनका प्रयोग किया गया था। मकान बनाने में प्रयुक्त ईंटें कच्ची होती थी। मकान कच्चे और कुछ मकान पक्के होते थे। मकान बनाते समय हवा और प्रकाश का पूरा ध्यान रखा जाता था। कुछ मकानों में मात्र दो कमरे होते थे और कुछ में दो से ज्यादा होते थे। मकान एक से अधिक मंजिल के भी होते थे। ऊपर की मंजिलों पर जाने के लिए सीढ़ियों का इस्तेमाल किया जाता था। ये सीढ़ियाँ मुख्य रूप से पत्थरों के बनी होती थी। घरों में दरवाजे, खिड़कियाँ, रसोईघर और आंगन होता था। दरवाजे गली की और खुलते थे। मोहनजोदड़ो का उत्खनन करने के बाद एक विशाल स्नानागार के बारे में भी पता चला। स्नानागार अत्यंत भव्य है। इस स्नानागार का क्षेत्रफल 11.88 मीटर लंबा, 7.01 मीटर चौड़ा और 2.43 मीटर गहरा है। स्नान कुंड से पानी को बाहर निकालने की समुचित व्यवस्था की गई थी। स्नानागार का फर्श पक्की ईंटों का बना है। स्नानागार के चारों तरफ चबूतरे और बरामदे हैं तथा बगल में कमरे भी हैं संभवत इसका इस्तेमाल कपड़े बदलने में किया जाता था।

प्रतिमा निर्माण की बृहत् भारतीय परंपरा

विजय कुमार त्रिपाठी

किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या वस्तु की तथैव अथवा काल्पनिक प्रतिकृति जो मिट्टी या पत्थर में बनाई जाए प्रतिमा कहलाती है। प्रतिमा बनाने वाले को मूर्ति शिल्पी कहते हैं और प्रतिमा बनाने के काम को मूर्ति शिल्प कहा जाता है। मंदिरों में पूजा के लिए इनकी स्थापना होती है तथा घर, नगर और संस्थानों में सुंदरता के लिए इन्हें स्थापित किया जाता है। देवी देवताओं और प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। 'प्रतिमा' शब्द देव विशेष, व्यक्ति विशेष अथवा पदार्थ विशेष की प्रतिकृति, बिंब, मूर्ति अथवा आकृति सभी का बोधक है। परंतु यहाँ पर प्रतिमा से तात्पर्य भक्ति भावना से भावित देवविशेष की मूर्ति अथवा देवभावना से अनुप्राणित पदार्थविशेष की प्रतिकृति से है। इस परिभाषा से प्रतिमा पूजा पर अनायास ध्यान जाता है। पहले लोग प्रकृतिपूजक थे। उसमें वृक्षपूजा, पर्वतपूजा, नदीपूजा आदि आती हैं। हमारे देश में पूजा परंपरा में दो महान् प्रसार हुए: एक वैदिक दृष्टि तथा दूसरा पौराणिक पूर्त। इसी को इष्ट पूर्त कहते हैं जिसके द्वारा भारतीय जनता का योगक्षेम वहन होता आया है। प्राचीन वैदिक कर्मकांड: यज्ञवेदी, यजमान, पुरोहित, बलि, हव्य, हवन एवं देवता तथा त्याग आदि के बृहत् उपबृंहण के अनुरूप ही देवार्चा में अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक के नाना संभार, प्रकार एवं कोटियाँ पल्लवित हुईं। अर्चा के सामान्य षोडशोपचार एवं विशिष्ट चतुष्षष्ठि उपचार, आर्च्य देवों के विभिन्न वर्ग–महादेव, विष्णु, देवी, सूर्य, नवग्रह आदि तथा अर्चकों की विभिन्न श्रेणियाँ इन सभी की समीक्षा हमारे प्रतिमाविज्ञान की पूर्वपीठिका की दशाध्यायी में द्रष्टव्य है।

किसी भी वस्तु, व्यक्ति, पशु, या पक्षी की प्रतिमा प्रतिमा कही जा सकती है परंतु भारत में प्रतिमाविज्ञान एवं प्रतिमा कला या मूर्तिकला का जन्म तथा विकास एवं प्रोल्लास देवार्चा से पनपा। सभी ध्यानी, योगी, ज्ञानी नहीं हो सकते थे, अतः 'भावना' के लिये प्रतिमा की कल्पना हुई। कालांतर पाकर पौराणिक पूर्तधर्म (देवतायननिर्माण, देवप्रतिष्ठा एवं देवार्चन) ने प्रतिमा निर्माण की परंपरा में महान् योगदान दिया। देवमंदिरों के निर्माण में न केवल गर्भगृह के प्रधान देवता के निर्माण की आवश्यकता हुई वरन् देवगृह के सभी अंगों, भित्तियों, शिखरों आदि पर भी प्रतिमाओं के चित्रणों का एक अनिवार्य अंग प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार प्रधान देवों के साथ–साथ परिवार देवों तथा भित्ति देवताओं की भी प्रतिमाएँ बनने लगीं। मंदिर की भित्तियाँ पौराणिक आख्यानों के चित्रणों से भी विभूषित होने लगीं। अतः हिंदू प्रासाद या विमान पुरुषाकार (विराट पुरुष के उपलक्षण पर विनिर्मित या प्रतिपादित) हैं अतः नाना उपलक्षणों, प्रतीकों, की पूर्ति के लिये यक्ष, गंधर्व, किन्नर, कूष्मांड, ऋषिगण, वसुगण, शार्दूल, मिथुन, सुर, सुंदरी, वाहन, आयुध आदि भी चित्रित होने लगे जिनकी प्रतिमाएँ भारतीय मूर्तिकला के समुज्वल निदर्शन हैं।

उपासना परंपरा में नाना संप्रदायों, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सोर, बौद्ध, (विशेषकर वज्रयान) एवं जैन आदि धार्मिक संप्रदायों में अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार प्रतिमा में देवों एवं देवियों के अगणित रूप परिकल्पित किए गए। पुराणों, आगमों, तंत्रों की आधारशिला पर यह वृंहण बहुत आगे बढ़ गया। प्रतिमा विज्ञान के सिद्धांतों का प्रतिपादन करनेवाले विभिन्न ग्रंथों में पुराण (विशेषकर मत्स्य, अग्नि, स्कंद, लिंग, भविष्य, विष्णु एवं विष्णु धर्मोत्तर), आगम (विशेषकर कामिक, कर्ण, सुप्रभेद, वैखानस आदि), शिल्पग्रंथ जैसे मानसार, मयमत, अगस्त्य–सकला–विकार, काश्यपीय अंशुभद्रादागम, शिल्पराज आदि दक्षिणी ग्रंथ तथा विश्वकर्मा वाजिशास्त्र, समरांगत्रणसूत्रधार, अपराजित पृच्छा, रूपमंडल आदि उत्तरी ग्रंथ, सातवाँ प्रतिष्ठाग्रंथ जैसे हरिभक्तिविलास, अभिलाषितार्थ चिंतामणि, (मानसोल्लास), रघुनंदन, मठप्रतिष्ठा, हेमाद्रिचतुर्वर्ग चिंतामणि कृष्णानंद तंत्रसार आदि विशेष उल्लेख्य हैं। इन सब ग्रंथों के आलोडन से निम्नलिखित सिद्धांत विशेष निश्चय करने योग्य हैं। शास्त्रीय दृष्टि से चित्र (सांगोपांग) व्यक्ति, चित्रार्ध (अर्धव्यक्ति प्रतिमा) चित्राभास विशेष मौलिक हैं। परंतु विकास की दृष्टि से चला, अचला, इन दो वर्गों का महान् प्रसार सपन्न हुआ। चला प्रतिमाओं में द्रव्यानुषंगत धातुजा (स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, लौह आदि से विनिर्मिता), रत्नजा (मुक्ता, प्रवाल, विद्रुम, स्फटिक, पुष्प, पद्मराव, वैदूर्य आदि रत्नों से निर्मित) शैलजा, (पाषाणी), काष्ठजा, मृणमयीय गंधजाय कोसुमी आदि नाना उपवर्ग हैं। दक्षिण भारत में इन चला प्रतिमाओं के चार विशेष वर्ग उल्लेखनीय हैं, कौतिक बेर, उत्सव बेर, बलिबेर, तथा स्नपन बेर (बेर का अर्थ प्रतिमा है)। अचला प्रतिमाओं को आगमों में ध्रुवबेर के नाम से उपश्लोकित किया गया है। उनमें तीन वर्ग प्रमुख हैं:

अस्थानक, आसन तथा शयन। पुनः उनके चार उपवर्ग हैः योग, भोग, वीर तथा आभिचारिक। इन सबको मिलाकर द्वादश ध्रुवबेर परिगणित होते हैं जैसे योगस्थानक, भोगस्थानक, आदि। इसी प्रकार योगासन, भोगासन आदि, योगशयन, भोगशयन आदि। संप्रदायानुरूप ब्राह्मण, बौद्ध, जैन में प्रतिमा के महावर्ग हैं। केंद्रानुरूप गांधार, मथुरा, उड़ीसा, बंगाल, मध्य भारत, दक्षिण भारत आदि से हम परिचित हैं। पुनः भावानुरूप शांत, अशांत, सौम्य, एवं असौम्य भी परिगणनीय हैं। देवानुरूप तो अगणित प्रतिमाएँ परिकल्पित हुई। वैष्णव प्रतिमाओं में दशावतार, अंशावतार, आयुध पुरुष, असाधारण, जैसे शेषशायी, तथा वासुदेव, साधारण, चर्तुभुज, अष्टभुज आदि। इसी प्रकार, शैव प्रतिमावृंद भी विशाल हैंः गंगाधर, अर्धनारीश्वर, संहार, दक्षिण, नृत्य आदि। अन्य संप्रदायों जैसे, सौर, गाणपत्य (गणेश एवं कार्तिकेय), शाक्त (देवी, सरस्वती, श्री पार्वती, दुर्गा, चामुंडा, कात्यायनी आदि नाना देवियाँ), बौद्ध (विशेषकर वज्रयान देवबृंद तथा देवीवृंद उसमें भी नाना मिथुन) एवं जैन जैसे तीर्थकर तथा शासन देवियाँ और शासक देव, इन सब का पृथुल प्रोल्लास पनपा। भारतीय प्रतिमाविज्ञान की सबसे बड़ी कसौटी मानयोजना हैः 'प्रमाणे स्थापिताः देवाः पूजादृष्टि भवन्ति त' का मान ही प्रतिमा सौंदर्य का मूलाधार है। अतः प्रतिमाविधान बिना प्रतिमा मान के पंगु है। संयम, नियम, जप, होम आदि की निष्ठा से ही प्रतिमाविधान प्रारंभ होता है। मान के नाना वर्ग हैं। प्रथम पुरुषप्रतिमा के मानाधार पंच पुरुषः हंस, शश, खेचर, भद्र तथा मालव्य माने गए हैं जिनके मान, आयाम तथा परिमाण के अनुसार क्रमशः 96, 99, 102, 105 तथा 108 अंगुल का मान माना गया है। इसी तरह प्रतिमा के भी बलाका, पौरुषी, पौ आदि पाँच मान हैं। प्रतिमाविधान में आवश्यक मान प्रक्रिया के नाना मान हैं जैसे मान, प्रमाण, उपमान, उन्मान, लंबमान आदि षड्वर्ग, परंतु यहाँ पर दो विशेष उल्लेख हैं अंगुलमान तथा तालमान। अंगुलमान की उत्पत्ति परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका तथा यव के मान पर निष्पन्न होती है। अंगुल के अतिरिक्त दंडादि भी मानाधार हैं, तालमान का आधार सशीर्ष मुखमान है। एक तालादि दशशालांत तालमान परिगणित हैं। इनमें दश तथा नव के उत्तम मध्यम, अधम प्रभेद भी हैं। पुनः किस तालमान से किस देव या देवी की प्रतिमा निर्मित करनी चाहिए यह भी पूर्ण रूप से शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है। विष्णु, ब्रह्मा, महादेव की मूर्तियाँ उत्तमदशताल में इसी प्रकार, उमा, सरस्वती, दुर्गा, आदि देवियाँ अधम दशताल में, इसी तरह इंद्रादि लोकपाल, चंद्र, सूर्य, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र मध्यम दशताल में निर्मेय हैं। अन्य देवों एवं देवियों के प्रतिमाविधान में भी तालमान पृथक् पृथक् संख्या में निर्धारित हैं। रूपसंयोग से तात्पर्य प्रतिमा के आसन, वाहन, आयुध, आभूषण, वस्त्र आदि से है। आसन में पद्मासन, कूर्मासन आदि आसन सामान्य हैं। वाहन में हंस, (हंसवाहन ब्रह्मा) वृषभ आदि से हम परिचित हैं। इसी प्रकार गजवाहन रुद्र, मयूरासन कार्तिकेय, को भी लोग जानते हैं। आयुधों में चक्र, गदा, त्रिशुल आदि नाना आयुध तो सभी ग्रंथों में वर्णित हैं परंतु 'अपराजितपृच्छा' में त्रिंशदायुध लक्षण एतद्विषय की विशेष सामग्री है। आभूषणों में हार, केयूर, मुकुठ, कौस्तुभ, वनमाला, कुंडल, किरीट, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। आयुधों एवं आभूषणों के साथ वाद्ययंत्र जैसे वीणा, डमरू, मृदंग, पानपात्र जैसे कपाल आदि भी विशेष परिगणनीय है। पहल के विद्वान बौद्ध प्रतिमाओं को ही मुद्राओं के निदर्शन मानते थे। प्रतिमामुद्रा में हस्तमुद्रा, पादमुद्रा तथा शरीरमुद्रा के ये तीन प्रमुख विभाजन हैं। पताकादि 64 मुद्राएँ, जो भरत के नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित हैं, नटराज की प्रतिमाओं में विभाज्य हैं। वैष्णवादि छह पादमुद्राएँ वैष्णव प्रतिमाओं की विशेषता हैं। ऋत्ज्वागतादि नौ शरीरमुद्राएँ सामान्य हैं जो विशेषकर (चित्रजा प्रतिमाओं में हैं)। इसी प्रकार समभंग, आदि शरीरमुद्राएँ भी बड़ी दुष्कर हैं। भारतीय प्रतिमाकला, काव्य, संगीत एवं नाट्य तथा नृत्य के समान मनोरम कला है अतः रसाभिव्यक्ति अनिवार्य है। समरांगण सूत्रधार तथा विष्णुधर्मोतर इन दो अधिकृत ग्रंथों में रसाभिनिवेश पर भी प्रतिपादन है। जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा प्रतिमाविशेष में नाना भावों की अभिव्यक्ति तो हो ही जाती है, रसाभिनिवेश से वह क्रीडा करने लगती है, सजीव हो उठती है। पत्थर में भी जान आ जाती है। चित्र में भी दृश्यभाव का आभास आने लगता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार, प्रतिमा 'छवि' या 'मूर्ति' के पर्यायवाची शब्दों में से एक को संदर्भित करती है, जो एक प्राचीन संस्कृत पाठ है जो कला, वास्तुकला, संगीत जैसे विभिन्न सांस्कृतिक विषयों से संबंधित है। शिल्पशास्त्र अर्थात बृहत्संहिता, मानससार, शिल्परत्न, देवतामूर्तिप्रकरण आदि में प्रतिमा विज्ञान की चर्चा है। संस्कृत में, छवि या मूर्ति को दर्शाने के लिए मूर्ति, प्रतिमा, देवतारूप आदि जैसे विभिन्न शब्दों का उपयोग किया जाता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रतिमा शब्द का उपयोग छवि को दर्शाने के लिए किया जाता है और यह अध्याय विभिन्न देवी–देवताओं की छवियों की विशेषताओं पर विस्तृत विवरण देता है।

कुषाण कला ने जैन तथा बौद्ध धर्मों के समान ही ब्राह्मण धर्म की भी सेवा की। वैष्णव, शाक्त व शैव संप्रदाय ब्राह्मण धर्म के प्रमुख अंग हैं। शैवों को उसी के अन्तर्गत माना जाता है। गुप्त काल तक पहुँचते–पहुँचते इसमें गणेश उपासकों का भी इसमें गणपत्य के नाम से इसमें समावेश हुआ। इस प्रकार विष्णु, दुर्गा, शिव, सूर्य व गणपति की उपासना पंच देवोपासना के नाम से प्रसिद्ध हुई। ललितविस्तार एवं अन्य ग्रन्थों में जो कुषाण काल में, विद्यमान थे, ब्राह्मण, धर्म के तत्कालीन देवी–देवताओं की मूर्तियों की एक तालिका मिलती है जिसमें शिव, स्कंद, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्म, नारायण, वैश्रवण, कुबेर, शुक्र व लोकपालों की प्रतिमाएँ प्रमुखता से गिनाई गई हैं। इनमें लगभग सभी की मूर्तियाँ कुषाण काल में उपलब्ध हैं। कुषाण काल में गणपति की उपासना मूर्ति रुप में कदाचित अधिक प्रचलित नहीं थी, पर इसके स्थान पर कार्तिकेय व कुबेर खूब पूजे जाते थे।

प्राचीन भारत के पारंपरिक सिंचाई साधन

मनीष रत्नपारखी

भारतीय कृषि के लिए सिंचाई महत्वंपूर्ण थी। वैशाली के पास तालाबों के उल्लेख मिलते हैं। सिंचाई के क्षेत्र में महत्वपूर्ण आविष्कार हुए। गुजरात की सुदर्शन झील का निर्माण मौर्य शासकों द्वारा किया गया। गुप्त शासकों द्वारा इसकी मरम्मत की गई। इस झील ने इस तरह आठ सौ वर्षों तक खेतों को सींचने का काम किया। नन्द शासकों ने उड़ीसा में नहर बनाने का बीड़ा उठाया और 5 शताब्दियों तक यह नहर सिंचाई के काम आती रही। 12वीं शताब्दी में सिंचाई के लिए ढेकली का प्रयोग किया जाता था। 16वीं शताब्दी में मृगावत की चित्रित हस्तलिपि का चित्रण उत्तर प्रदेश में 1523 और 1570 के बीच हुआ था। यह हस्तलिपि भारत कला भवन, वाराणसी में रखी हुई है। इसमें सिंचाई के लिए ढेंकली का चित्र अंकित है। 17वीं शताब्दी में भी यह उपकरण प्रयोग में लाया जाता था। इस यंत्र के नीचे उथले कूप के किनारे पर खूँटी गड़ी होती है और एक काँटे के आकार का दूसरे किनारे पर इस काँटे के बीच में एक लम्बा खम्भा उत्तोलक सिद्धान्त के तहत लगा रहता है। इस खम्भे में कुएँ के किनारे पर एक बाल्टी लटकी होती और दूसरे किनारे पर भारी पत्थर रहता है। एक आदमी इस यंत्र को रस्सी से खींचकर चला सकता है। रस्सी को कुएँ के अन्दर खींचा जाता और पानी से भरी बाल्टी खम्भे से उठाकर खोल दी जाती है, जिससे पानी खेतों में पहुँच जाए। इस यंत्र के लिए कड़ी मेहनत चाहिए और यह केवल उथले पानी में इस्तेमाल किए जाने योग्य था। इसलिए यह कुएँ के आसपास के केवल छोटे खेतों की सिंचाई कर सकता है।

सिंचाई के लिए चड्स की चर्चा अनेक प्राचीन ग्रंथों में हुई है। इस उपकरण में दो आदमियों और एक या दो बैलों के काम की जरूरत होती थी। काँटेदार खम्भे से एक घिरनी कुएँ के ऊपर धुरी के सहारे बनी होती। एक बड़ी चमड़े की बाल्टी जो कि चड्स कहलाती थी, घिरनी से नीचे कुएँ में डाल दी जाती थी। बाल्टी के भर जाने पर बैल रस्सी को कुछ दूरी तक खींचते और इस तरह बाल्टी को ऊपर खींचा जाता जो एक या दो आदमियों द्वारा नहर में खाली कर दी जाती थी। दूसरा आदमी बाल्टी को भरने के लिए हाँकता था।

सिंचाई के लिए आदमी और औरतें घड़ों में बारी–बारी से पानी लाते थे। इस रिवाज की चर्चा अर्थशास्त्र में भी है। अरघट एक ऐसा घेरा होता जिसके चारों ओर हाडियाँ लगाई जाती थीं। यह मानव–शक्ति से चलता और पोखर की सतह या नदी के किनारे से पानी एकत्र करता था। इसके द्वारा सिंचाई की सम्भावनाएँ उन खेतों तक सीमित हो गईं जो गाँव के किसी पोखर या नदी के पास होते। रहट में एक ओर घेरे पर हाडियों की चेन लगाई जाती थी, जिससे वह कुएँ से पानी निकाल सके। दूसरी ओर गियर की वजह से उसे चलाने के

लिए बैल की शक्ति का प्रयोग किया जाता था। इसने सिंचाई की सम्भावना को पर्याप्त बढ़ावा दिया। खासकर मध्यम जलस्तर वाले क्षेत्र में। फलस्वरूप जो कोई पक्के कुएँ और रहट का खर्चा वहन करने में समर्थ हो, वह अपनी इच्छानुसार खेतों की सिंचाई कर सकता था। बैलों की वजह से मानव ऊर्जा बच जाती थी। जो दूसरे किसी कृषि कार्य के लिए इस्तेमाल की जा सकती थी। यह उपकरण तुर्क विजय के साथ और बाद की शताब्दियों में पश्चिम एशिया से भारत आया। भारत में चक्कों द्वारा सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था का इतिहास दो नहीं, भी विकसित हुआ था जिसमें हाडियों की चेन थी किन्तु गियर की व्यवस्था तीन चरणों में सम्पन्न हुआ। अरघट और साकिया के बीच एक ऐसा उपकरण भी विकसित हुआ था जिसमें हाडियों की व्यवस्था थी किंतु गियर की व्यवस्था नहीं थी। इसे घंटीयंत्र भी कहते हैं। पक्के हुए कुएँ में फारसी रहट लगाना एक खर्चीला मामला था। गाँव के बहुत कम कुओं में ही ये रहट लग पाते थे। दरअसल ईंट का पक्का कुआँ बनाना बहुत खर्चीला होता था। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भी पूर्वी राजस्थान के 18 गाँवों के 528 कुओं में से केवल 41 कुएँ ही पक्के थे। कुओं से सिंचाई के परिणामस्वरूप सिंचाई का पानी नियंत्रित किया जा सकता था। फावड़ा का प्रयोग खेत में ढेला फोड़ने में किया जाता था। इसका प्रयोग हल चलाने के साथ–साथ या इसके तुरन्त बाद किया जाता होगा। फावड़े का इस्तेमाल कुषाणकाल से शुरू हो गया था। कृषि–पराशर में इससे गोबर उठाने की बात कही गई है। जहाँगीर के शासनकाल के दौरान किसानों द्वारा फावड़े का प्रयोग किया जाता था।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

वैदिक धारा और भारतीय संस्कृति

पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा' डॉ. मंगलदेव शास्त्री द्वारा समाज विज्ञान परिषद्, बनारस के सम्मुख दी गयी व्याख्यानमाला का निबन्धन है। भारतीय संस्कृति को तीन दृष्टियों से देखा जाता है। एक तो परम्परावादियों की संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि है और दूसरी इसके प्रतिवादस्वरूप आधुनिकतावादियों की दृष्टि है जो सारी प्राचीन परम्परा को अन्धविश्वास और प्रतिक्रियावादिता ही मानती है। तीसरी दृष्टि ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि है, जो प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य को ऐतिहासिक दृष्टि से समन्वित करके भारत के विभिन्न समुदायों तथा धर्मों के योग से भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यही वैज्ञानिक दृष्टि संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं को दूर करके देश के समस्त समुदायों में एकसूत्रता ला सकती है, सबके अभियान की वस्तु बन सकती है, राष्ट्र में एकात्मता की भावना उत्पन्न कर सकती है और देश की अनेक नवीन तथा विषम समस्याओं का समाधान कर सकती है।

यह समन्वय का कार्य आज ही नहीं आरम्भ हुआ है, वरन् प्राचीनकाल से ही होता आया है। विद्वान लेखक ने दिखाया है कि परम्परागत हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध नाम 'निगमागम' धर्म का अर्थ स्पष्टतः यही है कि इसका आधार केवल 'निगम' न होकर 'आगम' भी है और वह निगम–आगम–धर्मों का समन्वित रूप है। लेखक की दृष्टि में 'निगम' का अभिप्राय वैदिक परम्परा से है और 'आगम' का अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परा से है। एक ओर देव और दूसरी ओर असुर, दास या दस्यु जिन्हें 'अयज्ञाः' तथा 'अनिन्द्राः' अर्थात् यज्ञ–प्रथा और इन्द्र को न मानने वाले कहा गया है, एक ओर ऋग्वेदीय रुद्र तथा अनेक वैदिक देवता और दूसरी ओर पौराणिक शिव तथा अन्य प्रचलित उपास्यदेव और कर्मकाण्ड, एक ओर कर्म और अमृतत्व तथा दूसरी ओर संन्यास और मोक्ष की भावना, एक ओर ऋषि–सम्प्रदाय और दूसरी ओर मुनि–सम्प्रदाय, एक ओर हिंसामूलक मांसाहार तथा असहिष्णुता और दूसरी ओर अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता और विचार–सहिष्णुता अथवा अनेकान्तवाद, एक और वर्ण और दूसरी ओर जाति, एक ओर पुरुषविध देवता और दूसरी ओर स्त्रीविध देवता, एक ओर कृषिमूलक ग्राम–व्यवस्था और दूसरी ओर शिल्पमूलक नगर–व्यवस्था इत्यादि द्वन्द्व प्राचीनकाल की दो संस्कार–धाराओं की ओर संकेत करते हैं। पुराण, रामायण, महाभारत आदि में यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि अनेक प्राग–ऐतिहासिक जातियों का उल्लेख भी मिलता है। निगमागम धर्म का आधार केवल श्रुति न होकर

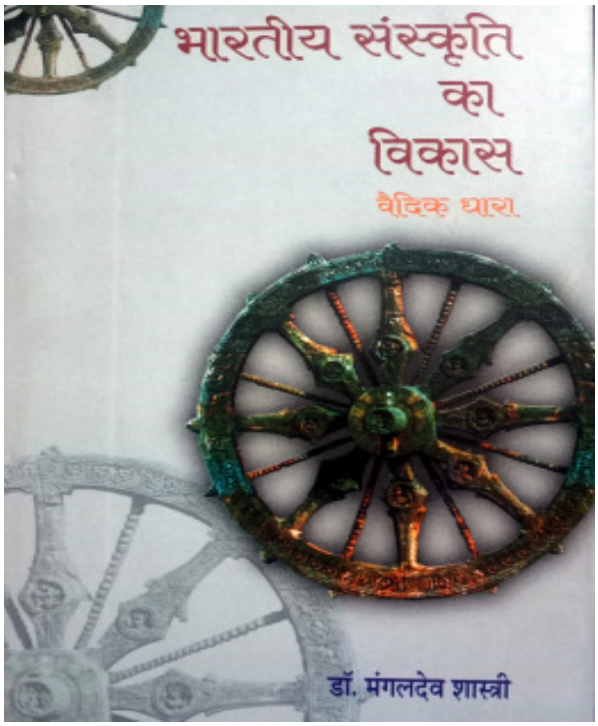

श्रुति–स्मृति–पुराण हैं। पुराण शब्द ही अत्यन्त प्राचीन संस्कृति की ओर संकेत करता है। अतएव भारतीय संस्कृति के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा लोकसाहित्य, लोकव्यवहार और लोकश्रुति तथा ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक पुरातत्व–विज्ञान, भाषा–विज्ञान, मानव–जातिविज्ञान, पुराण–विज्ञान आदि अनेक नवीन विज्ञानों के अनुशीलन की आवश्यकता है। यह कार्य डॉ. मंगलदेव शास्त्री जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्या के अधिकारी, विद्वानों द्वारा ही हो सकता है। विद्वान लेखक ने अपने अध्ययन को मौलिक आधारों पर ही प्रस्तुत किया है। उसमें उतनी ही और वे ही बातें प्रस्तुत की गयी हैं जो वेद आदि प्रमाणों से प्रत्यक्ष रूप से निष्पन्न होती हैं। किसी बात का कल्पना के आधार पर अप्रमाणित विस्तार नहीं किया गया है। इस मौलिक अध्ययन का एक आवश्यक परिणाम यह भी हुआ है कि आजकल प्रचलित अनेक वैज्ञानिक शब्दों के लिए सुन्दर पर्याय प्राप्त हुए हैं। भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण विकास ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, इसके लिए लेखक ने उसकी विभिन्न ध ाराओं जैसे– वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक आदि पर विवेचनात्मक दृष्टि से विमर्श किया है। इस पुस्तक का पहला संस्करण 1956 में प्रकाशित हुआ था, तब से लगाकर अभी तक इसके 3 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com